Kavya Setu

A Multidisciplinary Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 7.2 ISSN No: 3049-4176

उत्तर भारत में सिंचाई प्रौद्योगिकी का विकास और कृषि पर उसका प्रभाव

सविता

शोधार्थी, इतिहास विभाग, चौधरी बंसी लाल विश्वविद्यालय, भिवानी

डॉ. अर्जुन सिंह

शोध निर्देशक, चौधरी बंसी लाल विश्वविद्यालय, भिवानी

सारांश

उत्तर भारत की कृषि व्यवस्था का विकास प्राकृतिक जल–स्रोतों, मानसूनी वर्षा तथा मानव द्वारा निर्मित सिंचाई साधनों के परस्पर संबंध के आधार पर हुआ। प्रारंभिक काल से ही कृषि उत्पादन मुख्यतः वर्षा पर निर्भर था, परन्तु मानसून की अनिश्चितता, वर्षा के असमान वितरण तथा विभिन्न क्षेत्रों की भौगोलिक परिस्थितियों ने कृषकों को वैकल्पिक जल–स्रोतों और सिंचाई तकनीकों के विकास के लिए प्रेरित किया। कुएँ, तालाब, वापी, तड़ाग, बाँध, जलाशय, छोटी नहरें, जल–निकास प्रणालियाँ तथा जल–उत्थापक यंत्र इसी ऐतिहासिक प्रक्रिया के महत्वपूर्ण परिणाम थे। मौर्यकाल में सिंचाई व्यवस्था को राज्य की कृषि नीति और राजस्व प्रणाली से जोड़कर देखा गया, जिससे जल–संसाधनों के नियोजन और उपयोग का संस्थागत स्वरूप विकसित हुआ। गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल में कृषि क्षेत्र के विस्तार के साथ स्थानीय सिंचाई साधनों की उपयोगिता बढ़ी तथा जल–उत्थापक यंत्रों के प्रयोग से कृषि उत्पादन को अधिक नियमित बनाने का प्रयास किया गया। प्रारंभिक मध्यकाल में कूप, वापी, तड़ाग और अरघट्ट जैसी तकनीकों का प्रयोग अधिक व्यापक रूप में दिखाई देता है। कश्मीर में ललितादित्य तथा अवन्तिवर्मन के शासनकाल में किए गए जल–प्रबंधन कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सुय्य द्वारा वितस्ता नदी के प्रवाह का नियमन, बाढ़ नियंत्रण, जलमग्न भूमि की निकासी तथा सिंचाई नहरों का विकास कृषि योग्य भूमि के विस्तार में सहायक सिद्ध हुआ। प्रस्तुत शोध–पत्र में प्रारंभिक काल से बारहवीं शताब्दी तक उत्तर भारत में सिंचाई प्रौद्योगिकी के क्रमिक विकास तथा कृषि उत्पादन, फसल विविधता, ग्रामीण अर्थव्यवस्था, कृषि अधिशेष और राज्य के राजस्व पर उसके व्यापक प्रभावों का ऐतिहासिक विश्लेषण किया गया है।

मुख्य शब्दः सिंचाई प्रौद्योगिकी, उत्तर भारत, कृषि, कूप, वापी, तड़ाग, अरघट्ट, जल–प्रबंधन, कश्मीर, प्रारंभिक मध्यकाल।

प्रस्तावना

भारतीय इतिहास में कृषि केवल आजीविका का माध्यम नहीं थी, बल्कि वह सामाजिक संगठन, ग्रामीण अर्थव्यवस्था और राज्य की राजस्व व्यवस्था का प्रमुख आधार भी थी। उत्तर भारत में गंगा–यमुना के उपजाऊ मैदान, पंजाब की नदी घाटियाँ, राजस्थान के अर्द्ध–शुष्क क्षेत्र तथा

कश्मीर की घाटी भिन्न–भिन्न प्राकृतिक परिस्थितियों से युक्त थे। इसलिए इन क्षेत्रों में कृषि के स्वरूप और सिंचाई की आवश्यकताओं में भी पर्याप्त भिन्नता रही। जहाँ नदी और भूजल आसानी से उपलब्ध था, वहाँ कुओं तथा छोटी नहरों का उपयोग संभव था, वहीं कम वर्षा वाले क्षेत्रों में वर्षा–जल संचयन के लिए तालाबों, वापियों और बाँधों का अधिक महत्व था। प्रारंभिक मध्यकाल तक कृषि विस्तार के साथ सिंचाई के साधनों में भी उल्लेखनीय विविधता विकसित हो चुकी थी।[i] उत्तर भारत की कृषि का एक प्रमुख संकट मानसूनी वर्षा की अनिश्चितता था। सामान्य वर्षा कृषि को पर्याप्त जल उपलब्ध करा सकती थी, किंतु वर्षा के विलंब, अल्पवर्षा अथवा असमान वितरण की स्थिति में फसल उत्पादन प्रभावित होने की संभावना रहती थी। इसलिए मनुष्य ने प्राकृतिक जल को नियंत्रित करने, रोकने और खेतों तक पहुँचाने की तकनीकें विकसित कीं। सिंचाई तकनीक के इतिहास को इस कारण केवल किसी एक यंत्र के आविष्कार का इतिहास नहीं समझा जाना चाहिए, इसमें कुओं की खुदाई, जलाशयों का निर्माण, बाँध, नहर, जल–निकास, जल–वितरण और पानी उठाने वाले यंत्रों का पूरा तंत्र सम्मिलित था।[ii] प्रारंभिक काल से बारहवीं शताब्दी तक सिंचाई तकनीकों के विकास में निरंतरता और परिवर्तन दोनों दिखाई देते हैं। अनेक प्राचीन साधन, जैसे कुएँ और तालाब, लंबे समय तक उपयोग में बने रहे, जबकि समय के साथ जल उठाने वाले यंत्रों और नदी–नियंत्रण जैसी तकनीकों में सुधार हुआ। प्रारंभिक मध्यकालीन अभिलेखों और साहित्य में कूप, वापी, तड़ाग और अरघट्ट के उल्लेख बताते हैं कि जल–संसाधनों का प्रयोग स्थानीय कृषि व्यवस्था का महत्वपूर्ण घटक बन चुका था।[iii]

प्रारंभिक काल में जल–संसाधन एवं सिंचाई

प्रारंभिक कृषि समाज में वर्षा प्राकृतिक सिंचाई का सबसे महत्वपूर्ण साधन थी। इसके बावजूद कृषि को पूरी तरह वर्षा पर निर्भर रखना जोखिमपूर्ण था। इसलिए कुओं तथा स्थानीय जल–स्रोतों का उपयोग धीरे–धीरे बढ़ा। कुएँ का सबसे बड़ा लाभ यह था कि उससे कृषक आवश्यकता के अनुसार पानी निकाल सकता था। विशेष रूप से उन क्षेत्रों में जहाँ भूजल अपेक्षाकृत कम गहराई पर उपलब्ध था, कुएँ कृषि उत्पादन को स्थायित्व प्रदान कर सकते थे।[iv] कुओं से प्राप्त पानी को खेतों तक पहुँचाने के लिए छोटी नालियों का प्रयोग किया जाता होगा। पानी निकालने की प्रारंभिक विधि में रस्सी और पात्र का प्रयोग सरल तकनीक थी। धीरे–धीरे जल उठाने की प्रक्रिया को अधिक सुविधाजनक बनाने के लिए यांत्रिक साधनों का विकास हुआ। तकनीक का यह परिवर्तन इस बात का उदाहरण है कि कृषि संबंधी आवश्यकता ने व्यावहारिक वैज्ञानिक ज्ञान के विकास को प्रेरित किया।[v] वर्षा–जल को संरक्षित करने की आवश्यकता ने तालाबों और छोटे जलाशयों के निर्माण को भी प्रोत्साहित किया। मानसून के दौरान प्राप्त अतिरिक्त जल यदि बहकर निकल जाता तो उसका कृषि में बाद में

Kavya Setu

A Multidisciplinary Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 7.2 ISSN No: 3049-4176

उपयोग संभव नहीं था। जलाशय बनाकर इसे रोकने से न केवल बाद के महीनों में सिंचाई संभव होती थी, बल्कि आसपास के भूजल स्तर को बनाए रखने में भी सहायता मिलती थी। इसलिए जल–संचयन को कृषि की स्थिरता का महत्वपूर्ण तकनीकी आधार माना जा सकता है।[vi]

मौर्यकाल में सिंचाई और राज्य की भूमिका

मौर्यकाल तक सिंचाई व्यवस्था अधिक संगठित स्वरूप ग्रहण करती दिखाई देती है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कृषि को राज्य की आर्थिक समृद्धि का आधार माना गया है। इसमें कृषि अधिकारी की जिम्मेदारियों के साथ फसलों, ऋतुओं, जल उपलब्धता और सिंचाई के संबंध का विस्तृत उल्लेख मिलता है। राज्य के लिए ऐसी भूमि विशेष महत्व रखती थी जिसे नियमित रूप से कृषि के अंतर्गत लाया जा सके, क्योंकि उत्पादन में वृद्धि का सीधा संबंध राजस्व में वृद्धि से था।[vii] अर्थशास्त्र की एक महत्वपूर्ण विशेषता सिंचाई जल के उपयोग से संबंधित कर व्यवस्था है। इसमें जल प्राप्त करने की विभिन्न विधियों के आधार पर उदकभाग अर्थात जल–कर की दरों का उल्लेख मिलता है। हाथ से पानी उपलब्ध कराने, पानी ढोकर लाने, जल–उत्थापक यंत्रों से सिंचाई करने तथा नदी, झील, तालाब या कुएँ से जल प्राप्त करने की परिस्थितियों के लिए अलग–अलग हिस्सेदारी निर्धारित थी। यह विवरण स्पष्ट करता है कि सिंचाई तकनीक इतनी विकसित और विविध हो चुकी थी कि राज्य विभिन्न जल–प्राप्ति विधियों के बीच अंतर करता था। यह व्यवस्था एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत करती है – प्राचीन भारतीय राज्य कृषि उत्पादन के साथ जल–संसाधनों को आर्थिक पूँजी के रूप में समझने लगा था। यदि जल उपलब्धता बढ़ती थी तो भूमि की उत्पादकता भी बढ़ सकती थी और इससे राज्य की आय में वृद्धि होती थी। इसीलिए जलाशयों और सिंचाई संरचनाओं की स्थापना तथा रख–रखाव को सार्वजनिक और आर्थिक हित से जोड़ा गया।[viii]

गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल में सिंचाई तकनीक

गुप्त और गुप्तोत्तर काल में कृषि अर्थव्यवस्था का विस्तार होने के साथ स्थानीय सिंचाई साधनों का महत्व बढ़ा। विभिन्न क्षेत्रों में कृषि योग्य भूमि बढ़ने से ऐसी तकनीकों की आवश्यकता हुई जिन्हें ग्राम स्तर पर स्थापित और संचालित किया जा सके। कुएँ, तालाब और छोटे जलाशय इस आवश्यकता के अनुकूल थे, क्योंकि उनके निर्माण के लिए विशाल राजकीय संगठन आवश्यक नहीं था। स्थानीय समुदाय, भू–स्वामी अथवा धार्मिक प्रतिष्ठान भी ऐसी संरचनाएँ बनवा सकते थे।[ix] इस समय जल उठाने के यांत्रिक साधनों में भी सुधार के संकेत मिलते हैं। घटी–यंत्र जैसे उपकरण में पानी उठाने के लिए पात्रों का उपयोग किया जाता था। एक साधारण रस्सी–बाल्टी व्यवस्था की अपेक्षा पात्रों की निरंतर गति अधिक मात्रा में जल ऊपर ला सकती थी। इससे खेतों तक जल पहुँचाने की गति और निरंतरता में सुधार संभव हुआ। यह परिवर्तन विशेष रूप से उन फसलों के लिए लाभकारी रहा होगा जिन्हें

Kavya Setu
A Multidisciplinary Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 7.2 ISSN No: 3049-4176

बढ़वार के दौरान बार–बार पानी की आवश्यकता होती थी।[ग] सातवीं शताब्दी के साहित्यिक स्रोत कृषि परिदृश्य में जल–उत्थापक उपकरणों की उपस्थिति का संकेत देते हैं। इससे यह समझा जा सकता है कि जल उठाना अब केवल मानव श्रम पर आधारित कार्य नहीं रह गया था, बल्कि यांत्रिक सिद्धांतों के प्रयोग से इसे अधिक प्रभावी बनाने का प्रयास किया जा रहा था। यही तकनीकी परंपरा बाद में अरघट्ट जैसे अधिक व्यवस्थित जल–उत्थापक उपकरणों में विकसित हुई।[xi]

प्रारंभिक मध्यकाल में कृषि विस्तार और सिंचाई

लगभग छठी से बारहवीं शताब्दी के बीच भारतीय उपमहाद्वीप में कृषि क्षेत्र के व्यापक विस्तार के प्रमाण मिलते हैं। अनेक क्षेत्रों में भूमि–अनुदानों के माध्यम से नई भूमि को कृषि के अंतर्गत लाया गया और नई ग्रामीण बस्तियाँ विकसित हुईं। रणबीर चक्रवर्ती ने प्रारंभिक मध्यकाल में कृषि विस्तार और बेहतर सिंचाई तकनीकों के बीच घनिष्ठ संबंध की ओर संकेत किया है। उनके अनुसार जल–संसाधनों की भौगोलिक विविधता के कारण स्थानीय तथा बड़े – दोनों प्रकार की सिंचाई प्रणालियाँ विकसित हुईं।[xii] उत्तर भारत में इस कृषि विस्तार का स्वरूप प्रत्येक क्षेत्र में समान नहीं था। गंगा के मैदानी क्षेत्रों में उपजाऊ मिट्टी और भूजल की उपलब्धता ने कुओं की उपयोगिता बढ़ाई। राजस्थान तथा पश्चिमी क्षेत्रों में कम वर्षा के कारण जल–संचयन का विशेष महत्व था, जबकि कश्मीर में समस्या पानी की कमी के साथ–साथ अतिरिक्त जल और बाढ़ के नियंत्रण की भी थी। इसलिए प्रारंभिक मध्यकालीन सिंचाई प्रौद्योगिकी को क्षेत्रीय पर्यावरण के संदर्भ में समझना आवश्यक है।

अभिलेखीय प्रमाणों में कूप, वापी और तड़ाग जैसे शब्दों की उपस्थिति यह दर्शाती है कि जल–संरचनाएँ ग्रामीण भू–दृश्य का नियमित हिस्सा बन चुकी थीं। भूमि की सीमा निर्धारित करने में भी कभी–कभी कुओं और जल–स्रोतों का उल्लेख किया जाता था। इससे उनके स्थायी और सामाजिक महत्व का पता चलता है। हालांकि प्रत्येक तालाब या वापी को कृषि–सिंचाई से जोड़ना उचित नहीं है, क्योंकि कई संरचनाएँ पेयजल, धार्मिक पुण्य और सार्वजनिक उपयोग के लिए भी निर्मित की जाती थीं।[xiii]

अरघट्ट : जल–उत्थापन तकनीक का महत्वपूर्ण चरण

प्रारंभिक मध्यकालीन कृषि तकनीक में अरघट्ट का विशेष स्थान था। इसका सामान्य सिद्धांत किसी पहिए अथवा चक्र के साथ लगे पात्रों के माध्यम से नीचे स्थित जल को ऊपर उठाना था। पात्र जल में प्रवेश करते, भरते और चक्र की गति के साथ ऊपर पहुँचकर जल को एक नाली अथवा पात्र में उँडेलते थे। इस प्रकार पानी निकालने की प्रक्रिया अधिक निरंतर हो जाती थी।[xiv] अरघट्ट ने विशेष रूप से कुएँ आधारित सिंचाई की क्षमता बढ़ाने में योगदान दिया। पहले जहाँ एक पात्र से बार–बार पानी निकालना पड़ता था, वहीं चक्र–आधारित

Kavya Setu
A Multidisciplinary Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 7.2 ISSN No: 3049-4176
व्यवस्था लगातार जल निकाल सकती थी। इससे खेत तक पहुँचने वाले जल की मात्रा बढ़ी और सिंचाई में लगने वाले श्रम को कम करने की संभावना उत्पन्न हुई। शुष्क अथवा अर्द्ध–शुष्क क्षेत्रों में ऐसी तकनीक का महत्व और अधिक था, क्योंकि वहाँ उपलब्ध भूजल का अधिक प्रभावी उपयोग करना आवश्यक था। फिर भी प्रारंभिक मध्यकालीन अरघट्ट को सीधे बाद के पूर्ण विकसित पशु–चालित 'पर्शियन व्हील' के समान नहीं माना जाना चाहिए। इरफान हबीब ने मध्यकालीन भारतीय तकनीक के विकास का अध्ययन करते हुए जल–उत्थापक उपकरणों के विभिन्न चरणों के बीच अंतर की आवश्यकता पर बल दिया है। तकनीकी विकास क्रमिक था और पहिए, पात्रों की शृंखला तथा बाद में शक्ति–संचरण की अधिक विकसित व्यवस्था विभिन्न चरणों में विकसित हुई।[xv]

कुएँ, वापी, तालाब और जलाशय

कुआँ उत्तर भारतीय कृषि की सबसे दीर्घकालिक सिंचाई तकनीकों में से एक रहा। इसकी विशेषता यह थी कि इसे अपेक्षाकृत छोटे क्षेत्र में स्थापित किया जा सकता था तथा इसका जल आवश्यकता के समय निकाला जा सकता था। सिंचित भूमि में बीज बोने के बाद अंकुरण, पौधों की वृद्धि और फसल पकने के महत्वपूर्ण चरणों पर पानी देना संभव होने से खेती की अनिश्चितता कम होती थी।[xvi] वापी और तालाब वर्षा–जल संचयन की दृष्टि से महत्वपूर्ण थे। अर्द्ध–शुष्क क्षेत्रों में वर्षा वर्ष के सीमित समय में होती थी। यदि इस पानी को संरक्षित कर लिया जाता, तो उसका प्रयोग वर्षा समाप्त होने के बाद भी किया जा सकता था। स्थानीय स्थलाकृति के अनुरूप मिट्टी अथवा पत्थर के बाँध बनाकर बहते जल को रोकना सरल लेकिन प्रभावी तकनीक थी। इस तरह का स्थानीय तकनीकी ज्ञान लंबे अनुभव और प्राकृतिक परिस्थितियों की समझ पर आधारित था।[xvii] तालाब और जलाशय ग्रामीण समाज के लिए बहुउद्देशीय संरचनाएँ थे। उनका उपयोग सिंचाई के अतिरिक्त पशुओं, घरेलू आवश्यकताओं और कभी–कभी धार्मिक अनुष्ठानों के लिए भी किया जाता था। इसलिए जलाशयों ने ग्रामीण बसावट को स्थिर करने में भी योगदान दिया। पर्याप्त जल–स्रोत किसी गाँव के स्थायी विकास की आवश्यक शर्तों में से एक था।[xviii]

कश्मीर में सिंचाई प्रौद्योगिकी का विकास

उत्तर भारत में कश्मीर सिंचाई और जल–प्रबंधन की विकसित तकनीक का सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करता है। कश्मीर घाटी में जल की उपलब्धता पर्याप्त होने के बावजूद बाढ़ और जलभराव कृषि के लिए बड़ी समस्या थे। इसलिए यहाँ सिंचाई तकनीक का उद्देश्य केवल पानी उपलब्ध कराना नहीं था, बल्कि अतिरिक्त जल को नियंत्रित करना और जलमग्न भूमि को पुनः कृषि योग्य बनाना भी था।[xix] कल्हण की राजतरंगिणी में आठवीं शताब्दी के शासक ललितादित्य से संबंधित विवरणों में जल–उत्थापक चक्रों का उल्लेख मिलता है। इन उपकरणों के माध्यम से वितस्ता नदी के जल को ऊँचे क्षेत्रों अथवा निकटवर्ती गाँवों तक

पहुँचाने का प्रयास किया गया। यह उदाहरण दर्शाता है कि जल–उत्थापक तकनीक का उपयोग केवल कुओं तक सीमित नहीं था, बल्कि नदी के जल को कृषि उपयोग के लिए ऊँचाई पर पहुँचाने में भी किया जा सकता था।[xx]

कश्मीर के इतिहास में राजा अवन्तिवर्मन के शासनकाल में सुय्य द्वारा किए गए जल–प्रबंधन कार्य सबसे उल्लेखनीय हैं। नौवीं शताब्दी में वितस्ता नदी के प्रवाह और बाढ़ से संबंधित समस्याओं के समाधान के लिए सुय्य ने नदी के मार्ग में उपस्थित अवरोधों को हटाने, जल–निकास सुधारने और तटबंधों के निर्माण जैसे उपाय किए। राजतरंगिणी के पाँचवें तरंग में इन कार्यों का अपेक्षाकृत विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।[xxi] सुय्य की योजना केवल बाढ़ नियंत्रण तक सीमित नहीं थी। नदी और उसकी सहायक धाराओं के प्रवाह को व्यवस्थित करके खेतों तक सिंचाई जल पहुँचाने की व्यवस्था की गई। विभिन्न गाँवों की आवश्यकता के अनुसार जल का वितरण निर्धारित करने का भी उल्लेख मिलता है। इससे संकेत मिलता है कि सिंचाई व्यवस्था में केवल निर्माण संबंधी अभियांत्रिकी ही नहीं, बल्कि जल–वितरण के प्रशासनिक ज्ञान का भी प्रयोग किया जा रहा था। इस जल–प्रबंधन का कृषि पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। जलभराव कम होने से पहले अनुपयोगी भूमि खेती के लिए उपलब्ध हुई और सिंचाई की नियमितता ने धान उत्पादन बढ़ाने में सहायता की। कल्हण कृषि उत्पादन बढ़ने के फलस्वरूप चावल के मूल्य में उल्लेखनीय कमी का विवरण देते हैं। मूल्य संबंधी इन संख्याओं को आधुनिक आर्थिक आँकड़ों की तरह अक्षरशः स्वीकार करना उचित नहीं होगा, किंतु इतना स्पष्ट है कि ऐतिहासिक परंपरा ने सुय्य की जल–व्यवस्था को कृषि समृद्धि से सीधे जोड़ा।[xxii]

सिंचाई प्रौद्योगिकी का कृषि क्षेत्र पर प्रभाव

सिंचाई तकनीकों का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव कृषि योग्य भूमि के विस्तार के रूप में दिखाई देता है। जहाँ वर्षा के भरोसे नियमित फसल लेना कठिन था, वहाँ कुएँ और जलाशय अतिरिक्त जल उपलब्ध करा सकते थे। इसी प्रकार जलभराव वाले क्षेत्रों में जल निकासी की तकनीक ने ऐसी भूमि को भी खेती के लिए उपयोगी बनाया जो पहले अनुपयोगी थी। इस प्रकार सिंचाई और जल–निकास दोनों ने कृषि सीमा के विस्तार में योगदान दिया।[xxiii] सिंचाई ने उत्पादन की स्थिरता भी बढ़ाई। वर्षा में थोड़ी कमी होने पर यदि कृषक के पास कुआँ, तालाब अथवा अन्य जल–स्रोत उपलब्ध था तो वह फसल के महत्वपूर्ण चरण में पानी दे सकता था। इससे फसल नष्ट होने का खतरा कम होता था। हालांकि सिंचाई पूरी तरह अकाल को रोक नहीं सकती थी, फिर भी सामान्य वर्षा–विफलता और वर्षा की अनिश्चितता से कृषि को कुछ सुरक्षा प्राप्त होती थी।[xxiv]

Kavya Setu

A Multidisciplinary Open Access, Peer-Reviewed Refereed Journal
Impact Factor: 7.2 ISSN No: 3049-4176

कृषि उत्पादन की विविधता पर भी सिंचाई का प्रभाव पड़ा। ऐसी फसलें जिनके लिए अपेक्षाकृत अधिक पानी आवश्यक था, नियमित सिंचाई वाले क्षेत्रों में अधिक सफलतापूर्वक उगाई जा सकती थीं। धान और गन्ना इसके प्रमुख उदाहरण हैं। अर्थशास्त्र में भी विभिन्न ऋतुओं, भूमि की प्रकृति और जल उपलब्धता के अनुसार फसलों के चयन का उल्लेख मिलता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि जल और कृषि के बीच संबंध को व्यवस्थित रूप से समझा जाता था।[xxv] सिंचाई के कारण एक ही भूमि से अधिक नियमित उत्पादन मिलने की संभावना बढ़ी। पर्याप्त जल की उपलब्धता ने कृषि चक्र को अधिक नियंत्रित किया और कुछ क्षेत्रों में एक से अधिक फसल लेने की परिस्थितियाँ विकसित कीं। इस प्रक्रिया ने कृषि अधिशेष को बढ़ाने में सहायता की। अधिशेष केवल कृषक की आर्थिक स्थिति के लिए महत्वपूर्ण नहीं था, बल्कि राज्य, मंदिरों, धार्मिक प्रतिष्ठानों तथा स्थानीय प्रभु वर्ग की आय का भी आधार था।[xxvi]

सिंचाई, ग्रामीण अर्थव्यवस्था और राजस्व

कृषि उत्पादन और राज्य के राजस्व में सीधा संबंध था। प्राचीन तथा प्रारंभिक मध्यकालीन शासन व्यवस्था में भूमि से प्राप्त आय राजकोष का महत्वपूर्ण स्रोत थी। जिस भूमि पर नियमित सिंचाई उपलब्ध थी, उसकी उत्पादक क्षमता सामान्यतः वर्षा–निर्भर भूमि की तुलना में अधिक हो सकती थी। इसलिए राज्य को सिंचाई सुविधाओं के निर्माण, संरक्षण और उनके प्रभावी उपयोग में आर्थिक रुचि होना स्वाभाविक था।[xxvii] अर्थशास्त्र में सिंचाई जल के प्रयोग पर निर्धारित उदकभाग इस आर्थिक संबंध को स्पष्ट करता है। पानी प्राप्त करने की विधि के अनुसार उत्पादन में राज्य का हिस्सा निश्चित करना यह बताता है कि जल–व्यवस्था को कराधान के ढाँचे से जोड़ा गया था। इससे सिंचाई अवसंरचना राज्य के लिए केवल जनकल्याण का साधन न होकर राजस्व बढ़ाने की प्रणाली भी बनती थी।[xxviii] प्रारंभिक मध्यकाल में सिंचाई संरचनाओं के निर्माण में केवल राज्य की भूमिका नहीं थी। स्थानीय प्रभावशाली व्यक्ति, धार्मिक संस्थाएँ तथा ग्रामीण समुदाय भी कुएँ और जलाशय बनवाते थे। ऐसी संरचनाएँ सार्वजनिक प्रतिष्ठा और धार्मिक पुण्य से भी जुड़ी थीं। इसलिए सिंचाई का विकास राज्य, समाज और स्थानीय अर्थव्यवस्था की संयुक्त प्रक्रिया के रूप में समझना अधिक उपयुक्त है।[xxix]

सिंचाई प्रौद्योगिकी की वैज्ञानिक प्रकृति

प्राचीन और प्रारंभिक मध्यकालीन सिंचाई को आधुनिक वैज्ञानिक तकनीक की कसौटी पर मापना उचित नहीं होगा, किंतु इन प्रणालियों के पीछे व्यावहारिक विज्ञान और अनुभवजन्य ज्ञान स्पष्ट दिखाई देता है। कुआँ कहाँ खोदा जाए, जलाशय किस ढाल पर बनाया जाए, बाँध किस दिशा में हो, नदी के प्रवाह को कहाँ मोड़ा जाए तथा खेत तक पानी किस स्तर पर पहुँचाया जाए – इन सभी प्रश्नों के समाधान के लिए स्थलाकृति, जल–प्रवाह और मिट्टी की प्रकृति का व्यावहारिक ज्ञान आवश्यक था। यह ज्ञान दीर्घकालीन अनुभव और

पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तांतरित तकनीकी परंपराओं के माध्यम से विकसित हुआ था। जल–संचयन संरचनाओं के निर्माण में भी वैज्ञानिक दृष्टि के अनेक तत्व दिखाई देते हैं। तालाब, वापी और जलाशय सामान्यतः ऐसे स्थानों पर बनाए जाते थे जहाँ प्राकृतिक ढाल के माध्यम से वर्षा–जल को एकत्रित किया जा सके। जलाशय की गहराई, उसके तटबंध की मजबूती, जल के प्रवेश और निकास की दिशा तथा आसपास की कृषि भूमि का स्तर उसके प्रभावी उपयोग के लिए महत्वपूर्ण थे। मिट्टी अथवा पत्थर से निर्मित बाँधों को इस प्रकार स्थापित करना पड़ता था कि वे जल का दबाव सह सकें और एकत्रित पानी अनियंत्रित रूप से बाहर न निकले। इसी प्रकार खेतों तक पानी पहुँचाने वाली नालियों की ढाल ऐसी रखी जाती थी जिससे जल स्वतः प्रवाहित हो सके तथा अनावश्यक जल–हानि कम हो। इन व्यवस्थाओं से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन कृषक और निर्माणकर्ता जल के स्वाभाविक प्रवाह और भू–आकृति के व्यवहार से परिचित थे।[xxx] कुओं की खुदाई और उनसे जल प्राप्त करने की प्रक्रिया भी अनुभवजन्य ज्ञान पर आधारित थी। भूजल की उपलब्धता का अनुमान भूमि की प्रकृति, वनस्पति, नमी और स्थानीय जल–स्रोतों के आधार पर लगाया जाता था। कुएँ की दीवारों को सुरक्षित रखने, पानी के स्तर तक पहुँचने तथा निकाले गए जल को खेतों तक पहुँचाने के लिए स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप विभिन्न उपाय अपनाए जाते थे। साधारण रस्सी और पात्र से जल निकालने की प्रारंभिक तकनीक के बाद जल–उत्थापक यंत्रों का विकास इस बात का प्रमाण है कि कृषक समाज ने श्रम को कम करने तथा अधिक मात्रा में जल प्राप्त करने के लिए यांत्रिक साधनों का उपयोग करना आरंभ कर दिया था। यह परिवर्तन सिंचाई प्रौद्योगिकी के क्रमिक तकनीकी विकास का महत्वपूर्ण चरण था।

अरघट्ट जैसे यंत्र यांत्रिक सिद्धांतों के प्रयोग का प्रमाण हैं। पहिए की घूर्णन गति, पात्रों का क्रम, जल उठाने की ऊँचाई और पानी को नाली में छोड़ने की व्यवस्था एक तकनीकी प्रणाली का निर्माण करती थी। इसी प्रकार कश्मीर में सुय्य की नदी–नियमन योजना जल प्रवाह की दिशा, बाढ़, अवसादन तथा भूमि की ऊँचाई–निचाई के व्यावहारिक ज्ञान को दर्शाती है।[xxxi] इसलिए प्रारंभिक काल से बारहवीं शताब्दी तक सिंचाई के विकास को भारतीय समाज के वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान की महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति माना जा सकता है। यह ज्ञान मुख्यतः अनुभव आधारित था और कृषि की वास्तविक समस्याओं के समाधान के लिए विकसित हुआ था। तकनीकी परिवर्तन अचानक नहीं हुए, बल्कि पुरानी प्रणालियों में सुधार और स्थानीय आवश्यकताओं के अनुकूल नई प्रणालियाँ जोड़ने की क्रमिक प्रक्रिया के माध्यम से हुए।[xxxii]

निष्कर्ष

प्रारंभिक काल से बारहवीं शताब्दी तक उत्तर भारत में सिंचाई प्रौद्योगिकी का विकास कृषि इतिहास की एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया थी। मानसूनी वर्षा की अनिश्चितता ने जल को सुरक्षित

रखने और आवश्यकता के अनुसार उपयोग करने की तकनीकों को जन्म दिया। प्रारंभिक अवस्था में कुएँ, तालाब और छोटी जल–नालियाँ महत्वपूर्ण थीं। मौर्यकाल तक सिंचाई को राज्य की आर्थिक और प्रशासनिक व्यवस्था से जोड़ दिया गया तथा जल के उपयोग पर कर की स्पष्ट व्यवस्था दिखाई देने लगी। गुप्त और गुप्तोत्तर काल में कृषि विस्तार के साथ स्थानीय सिंचाई साधनों का महत्व और बढ़ा। जल–उत्थापक यंत्रों ने कुओं और अन्य जल–स्रोतों से अधिक प्रभावी रूप में पानी प्राप्त करने की क्षमता विकसित की। प्रारंभिक मध्यकाल में कूप, वापी, तड़ाग और अरघट्ट जैसी तकनीकों की व्यापक उपस्थिति कृषि तथा ग्रामीण बसावट के विस्तार से जुड़ी दिखाई देती है।

कश्मीर में ललितादित्य और विशेष रूप से अवन्तिवर्मन के समय सुय्य द्वारा किए गए कार्य सिंचाई प्रौद्योगिकी की उन्नत अवस्था को दर्शाते हैं। नदी प्रवाह का नियंत्रण, बाढ़ से सुरक्षा, जलमग्न भूमि की निकासी, सिंचाई नहरों का निर्माण तथा गाँवों के बीच जल–वितरण की व्यवस्था इस बात का प्रमाण है कि जल–प्रबंधन कृषि नीति का संगठित हिस्सा बन सकता था। सिंचाई प्रौद्योगिकी ने कृषि योग्य भूमि के विस्तार, उत्पादन की स्थिरता, फसल विविधता और कृषि अधिशेष में वृद्धि की संभावनाएँ उत्पन्न कीं। इसका प्रभाव केवल खेत और किसान तक सीमित नहीं रहा, बल्कि ग्रामीण बस्तियों, व्यापारिक विनिमय, धार्मिक संस्थाओं तथा राज्य की राजस्व व्यवस्था पर भी पड़ा। इस प्रकार उत्तर भारत में सिंचाई प्रौद्योगिकी का इतिहास मानव, प्रकृति और तकनीक के बीच विकसित उस संबंध को दर्शाता है जिसने प्रारंभिक भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था के स्वरूप को गहराई से प्रभावित किया।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:

---

[i] रणबीर चक्रवर्ती, "एग्रीकल्चरल टेक्नोलॉजी इन अर्ली मीडीवल इंडिया (सी. ए.डी. 500–1300)," द मीडीवल हिस्ट्री जर्नल, खंड 11, अंक 2 (2008), पृ. 229–231

[ii] लल्लनजी गोपाल, द इकोनॉमिक लाइफ ऑफ नॉर्दर्न इंडिया, सी. ए.डी. 700–1200, द्वितीय संशोधित संस्करण (दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, 1989), पृ. 84–86

[iii] सुरभि श्रीवास्तव, "मीन्स ऑफ इरिगेशन इन नॉर्थ सेंट्रल इंडिया ड्यूरिंग द अर्ली मीडीवल पीरियड," प्रोसीडिंग्स ऑफ द इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, खंड 66 (2005–2006), पृ. 259–263

[iv] लल्लनजी गोपाल, एस्पेक्ट्स ऑफ हिस्ट्री ऑफ एग्रीकल्चर इन एंशिएंट इंडिया (वाराणसी: भारतीय विद्या प्रकाशन, 1980), पृ. 72–74

[v] गोपाल, एस्पेक्ट्स ऑफ हिस्ट्री ऑफ एग्रीकल्चर इन एंशिएंट इंडिया, पृ. 75–77

[vi] गोपाल, द इकोनॉमिक लाइफ ऑफ नॉर्दर्न इंडिया, पृ. 84–86

[vii] आर. पी. कांगले, अनु. एवं सम्पा., द कौटिलीय अर्थशास्त्र, भाग 2 (बॉम्बे: यूनिवर्सिटी ऑफ बॉम्बे, 1963), पृ. 148–152

[viii] कांगले, द कौटिलीय अर्थशास्त्र, भाग 2, पृ. 151–152

[ix] ब्रजदुलाल चट्टोपाध्याय, एस्पेक्ट्स ऑफ रूरल सेटलमेंट्स एंड रूरल सोसाइटी इन अर्ली मीडीवल इंडिया (कलकत्ताः के. पी. बागची एंड कंपनी, 1990), पृ. 25–27

[x] इरफान हबीब, टेक्नोलॉजी इन मीडीवल इंडिया, सी. 650–1750 (नई दिल्लीः तुलिका बुक्स, 2008), पृ. 25–27

[xi] हबीब, टेक्नोलॉजी इन मीडीवल इंडिया, पृ. 28–30

[xii] चक्रवर्ती, "एग्रीकल्चरल टेक्नोलॉजी इन अर्ली मीडीवल इंडिया," पृ. 229–231

[xiii] श्रीवास्तव, "मीन्स ऑफ इरिगेशन इन नॉर्थ सेंट्रल इंडिया," पृ. 259–263

[xiv] ब्रजदुलाल चट्टोपाध्याय, द मेकिंग ऑफ अर्ली मीडीवल इंडिया (नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1994), पृ. 44–46

[xv] हबीब, टेक्नोलॉजी इन मीडीवल इंडिया, पृ. 31–33

[xvi] गोपाल, द इकोनॉमिक लाइफ ऑफ नॉर्दर्न इंडिया, पृ. 84–86

[xvii] चक्रवर्ती, "एग्रीकल्चरल टेक्नोलॉजी इन अर्ली मीडीवल इंडिया," पृ. 246–248

[xviii] चट्टोपाध्याय, एस्पेक्ट्स ऑफ रूरल सेटलमेंट्स एंड रूरल सोसाइटी, पृ. 28–30

[xix] एम. ए. स्टीन, अनु., कल्हण्स राजतरंगिणीः ए क्रॉनिकल ऑफ द किंग्स ऑफ कश्मीर, खंड 1 (वेस्टमिन्स्टरः आर्चिबाल्ड कॉन्स्टेबल एंड कंपनी, 1900), पृ. 195–202

[xx] स्टीन, कल्हण्स राजतरंगिणी, खंड 1, पृ. 195

[xxi] स्टीन, कल्हण्स राजतरंगिणी, खंड 1, पृ. 197–199

[xxii] स्टीन, कल्हण्स राजतरंगिणी, खंड 1, पृ. 200–201

[xxiii] चक्रवर्ती, "एग्रीकल्चरल टेक्नोलॉजी इन अर्ली मीडीवल इंडिया," पृ. 229–231

[xxiv] गोपाल, द इकोनॉमिक लाइफ ऑफ नॉर्दर्न इंडिया, पृ. 86–88

[xxv] कांगले, द कौटिलीय अर्थशास्त्र, भाग 2, पृ. 148–152

[xxvi] चक्रवर्ती, "एग्रीकल्चरल टेक्नोलॉजी इन अर्ली मीडीवल इंडिया," पृ. 249–251

[xxvii] गोपाल, द इकोनॉमिक लाइफ ऑफ नॉर्दर्न इंडिया, पृ. 88–90

[xxviii] कांगले, द कौटिलीय अर्थशास्त्र, भाग 2, पृ. 151

[xxix] चट्टोपाध्याय, एस्पेक्ट्स ऑफ रूरल सेटलमेंट्स एंड रूरल सोसाइटी, पृ. 31–33

[xxx] हबीब, टेक्नोलॉजी इन मीडीवल इंडिया, पृ. 32–34

[xxxi] स्टीन, कल्हण्स राजतरंगिणी, खंड 1, पृ. 198–200

[xxxii] चक्रवर्ती, "एग्रीकल्चरल टेक्नोलॉजी इन अर्ली मीडीवल इंडिया," पृ. 252–254